लेख

मीडिया की नज़र में मुस्लिम महिलाएं

सबीना किदवई

मुस्लिम महिलाओं के चित्रण को समझने की ज़रूरत इस सच्चाई से उभरती है कि वे भारत व इस्लामी दुनिया में मुस्लिम महिला की छवि का प्रतीक है तथा इस्लामी कट्टरवाद से पीड़ित व उसकी सबसे अहम प्रदर्शक भी हैं। पश्चिमी मीडिया इस्लामी पुनरुत्थान को महिलाओं के दमन के लिए ज़िम्मेदार मानता है तथा इस्लाम व मुसलमान पुरुष को इस दमन का कर्त्ता। जहां तक भारतीय संदर्भ का सवाल है वहां मुस्लिम महिलाएं अल्पसंख्यक राजनीति से ग्रस्त समझी जाती हैं तथा मीडिया इनकी भूमिका को समुदाय के भीतर ही सीमित मानता है। भारतीय मीडिया में मुस्लिम महिलाओं का चित्रण समाज के मौजूद कायदे-मान्याताओं के अनुकूल है तथा इस्लाम व मुस्लिम महिलाओं की प्रचलित धारणाओं को पुनर्स्थापित करता है। मुस्लिम समुदाय खबरों में तभी आता है जब उससे जुड़ा कोई जटिल मुद्दा उभरता है और मुस्लिम महिलाएं व *मुस्लिम पर्सनल लॉ* इस नकारात्मक रवैये में विशेष अहमियत पाते हैं। नतीजतन मीडिया भारतीय समाज में इस्लाम व मुसलमानों की पूर्वग्रह ग्रस्त छवि को वैधता प्रदान करता है। इन सभी कारकों की समीक्षा करने के लिए हम तीन अंग्रेज़ी अखबारों— *द हिंदू, द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* व *हिन्दुस्तान टाइम्स,* पत्रिका-*इण्डिया टुडे* तथा दूरदर्शन कार्यक्रम-*न्यूज़ट्रैक* व *आई विटनेस* पर गौर करेंगे।

सन् 1990-2001 के बीच मुस्लिम समुदाय से जुड़ी तमाम खबरों को मीडिया ने भारतीय समाज के सभी आयामों से अलग मानकर उनकी समस्याओं के लिए पूरी तरह इस्लाम को ज़िम्मेदार ठहराया। 1990 का दौर राजनैतिक व सामाजिक परिवर्तन का दौर था। सामुदायिक संघर्ष व साम्प्रदायिक राजनीति में बढ़ोत्तरी हुई तथा मुस्लिम महिलाओं को उनके समुदाय का प्रतिनिधि माना गया। मीडिया ने भी इसी छवि को बढ़ावा दिया हालांकि बाबरी मस्जिद विध्वंस, "इस्लामी आतंकवाद" व *मुस्लिम पर्सनल लॉ* भी अहम मुद्दे थे। मीडिया का भी धर्मनिरपेक्ष

रुख धीरे-धीरे घटने लगा जिसके कारण मीडिया द्वारा प्रसारित विचार धारणाएं व नज़रिये उपभोक्ताओं के दिलों दिमाग पर अमिट सच्चाई के रूप में अंकित हो गए हैं।

मीडिया समीक्षा से यह स्पष्ट हुआ है कि जहां मुस्लिम समुदाय की बात हो वहां मुद्दा चाहे हैदराबाद की बाल वधुओं का हो, चाहे कश्मीरी औरतों को जबरन बुर्का पहनाने का, मीडिया की तवज्जो सदैव इस मुद्दों के धार्मिक-राजनैतिक विस्तार पर केंद्रित रही है। पिछले दर्शकों के अखबारों की खबरों पर अगर नज़र डालें तो हम पाएगें कि मुस्लिम महिलाएं सुर्खियों में तभी नज़र आई हैं जब वे किसी धार्मिक विरोधाभास का हिस्सा रही हों और तब भी उनका दर्जा मात्र चर्चा में "विषय" का रहा है। यदा-कदा मीडिया ने मुस्लिम महिला अधिकारों के संघर्ष को सहयोग प्रदान किया है तब भी उसने मुस्लिम महिलाओं के विचारों को नज़रअंदाज़ करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। जब स्पष्ट सामाजिक-आर्थिक आयाम वाले मुद्दे उभरते हैं तब भी मीडिया ने उनको एक धार्मिक रंग में ढाल दिया है जिसके कारण महिला अधिकारों के संघर्ष केवल उनके समुदाय के धार्मिक नेताओं व पुरुषों को सम्बोधित करने वाले प्रतीत होते हैं।

एक स्तर पर अखबारों ने प्रगतिशील मुस्लिम अकादमिकों के विचारों को भी उजागर करके मुस्लिम महिलाओं के प्रति अपनी सहानुभूति जताने की कोशिश की है। पर वहीं दूसरी ओर पूर्वग्रह ग्रस्त सामाजिक व राजनैतिक विचारों के प्रभाव ने मुस्लिम पुरुषों के लिए बढ़ती शत्रुता को बढ़ावा दिया। इसके अलावा यह प्रतीत हुआ कि महिलाओं के प्रति यह सहानुभूति उनकी भुक्तभोगी और पीड़ित की पारम्परिक छवि के जवाब में थी। मीडिया में छपी खबरों में मुस्लिम महिलाओं के मुद्दे और उनके विचार पूरी तरह नज़रअंदाज़ किये गये थे। मौजूदा मुद्दों पर मुस्लिम महिलाओं की प्रतिक्रिया सुनिश्चित करने के कोई शोध या सर्वेक्षण नहीं किया गया था। मुद्दों से जुड़े राजनैतिक, धार्मिक, कानूनी व मनोवैज्ञानिक आयाम सर्वोपरि रहे और महिलाएं व उनके पक्ष महज मूक दर्शक बनकर रह गये।

मुस्लिम महिलाओं से जुड़ी घटनाओं को महिला अधिकारों की बहस की श्रेणी में न रखकर मीडिया ने इन्हें केवल दो पक्षों के बीच, शरीयत के विश्लेषण को लेकर विरोध तक सीमित रखा। लेखों-सम्पादकियों में *मुस्लिम पर्सनल लॉ* पर ही चर्चाएं चलीं फिर मुद्दा चाहे बाल वधुओं का हो, या 'तेहरा' मौखिक तलाक की धार्मिक वैधता का रहा हो। इन सभी बहसों ने यह मान लिया था कि मुस्लिम समुदाय एक अखण्डित समूह है जिसको परिभाषित करने वाला इकलौता कारण है इस्लाम। इसका परिणाम यह हुआ कि मीडिया ने अन्य इस्लामी देशों में महिलाओं के दर्जे को लेकर बहस व चर्चाएं शुरू कर दीं और उनको इस्लामी कट्टरवाद से बढ़ती चिंताओं की ओर मोड़ दिया।

नब्बे के दशक में युवा बुर्का पहने लड़की की छवि मीडिया में उभरती दिखाई दी और इसने एक मूक, अदृश्य मुस्लिम महिला को तस्वीर को समाज के सामने साकार कर दिया। आने वाले सालों में यही छवि समाज में व्याप्त रही और मुस्लिम महिला को सदैव अपने समुदाय का प्रतीक माना जाता रहा। वह अदृश्य बनी रही, उस पर बहसें, चर्चाएं, विश्लेषण, सुधार सभी हुए परन्तु एक जीती जागती महिला के रूप में या व्यक्ति के तौर पर उसे हक़ व पहचान नहीं मिली। ज़्यादा से ज़्यादा उसे सहानुभूति मिली कि वह कट्टरवादियों के शिकंजे का एक मोहरा है। *मुस्लिम पर्सनल लॉ* और 'तेहरा' तलाक के तहत उसके दमन पर लेख, फीचर आदि बड़ी संख्या में छपे। उसे शोषण को मुस्लिम समुदाय पर शोध का

एक साधन मानकर दूरदर्शन, वीडियो, पत्रिकाओं और अखबारों में सनसनीखेज़ खबरें बनीं।

कुछ शिक्षाविदों, जिनमें असगर अली इंजीनियर का नाम मुख्य है ने भी इस दौरान कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे उठाए। अपने लेखों में उन्होंने *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के मौलवियों द्वारा दुरूपयोग की बात की, हालांकि उनका नज़रिए सुरक्षात्मक ही रहा। कुछ अखबारों के लेखों में *मुस्लिम पसर्नल लॉ बोर्ड* की भूमिका तथा कानूनों को सूत्रबद्ध करने की ज़रूरत पर ज़ोर भी दिया गया।

दूरदर्शन की कहानियों में जटिल परन्तु छुट-पुट घटनाओं को रूढ़िबद्ध तरीकों से पेश करने की क्षमता अखबारों से अधिक होती है। ये रूढ़िबद्ध छवि सिर्फ़ महिलाओं तक सीमित नहीं रहीं बल्कि इसने पूरे समुदाय का एक ऐसा ढांचा पेश किया जिसे हम आज भी मानते हैं। एक साथ नमाज़ पढ़ते मुसलमान पुरुष, बुर्का पहने औरतें, जामा मस्जिद, पुश्तैनी हवेलियां, संकरे रास्ते ये तमाम छवियां आज भी पूरे समुदाय को प्रतिबिम्बित करती हैं। 'तेहरा' तलाक का मुद्दा इन छवियों की शुरूआत थी। यानी हम यह देख रहे हैं कि जब कोई जेंडर संबंधी मुद्दे में राजनैतिक आयाम का अभाव होता है तब उसकी रिपोंटिग ज़्यादा सकारात्मक व पूर्वग्रह रहित होती है।

जब 1993-94 में तलाक का मुद्दा सामने आया तब उसे फौरन बाबरी मस्जिद विध्वंस व अल्पसंख्यक असुरक्षा के साथ जोड़ दिया गया तथा मुस्लिम महिलाओं के मुद्दे उसी राजनैतिक परिप्रेक्ष में रख दिये गये। सन् 2000 में इन्हीं मुद्दों को मीडिया ने अलग नज़रिये से आंका क्योंकि ये किसी राजनैतिक घटना से जुड़े नहीं थे बल्कि इन्हें महिला संगठनों ने जेंडर मुद्दों की तरह उठाया था। इन दोनों में बस एक समानता थी-मुस्लिम महिलाएं समुदाय के भीतर ही सीमित रहीं और उनसे जुड़े सभी मुद्दे इस्लाम के तहत देखे गये।

1993-94 की खबरों में इस्लाम का एक नकारात्मक चित्रण दिखाई दिया जबकि 2000-01 में धर्म के सकारात्मक पहलुओं को उजागर करके महिलाओं को एक सशक्त आवाज़ प्रदान की गई। इस सदी का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है मुस्लिम महिलाओं की पीड़ित व भुक्तभोगी की छवि से आज़ादी तथा उनके अधिकारों के प्रति एक बढ़ती हुई संवेदनशीलता। पर मीडिया के इस परिवर्तन के बावजूद मुस्लिम महिला अभी भी समुदाय के सीखचों में कैद है और उसकी पहचान अभी भी उसके धर्म से ही होती है।

पर ये जेंडर संवदेलशीलता केवल उन्हीं मुद्दों तक सीमित नज़र आती है जिनका कोई राजनैतिक महत्व नहीं है। सितम्बर 2001 में जब कश्मीरी महिलाओं को ज़बर्दस्ती बुर्का पहनाने की खबर आई तो मीडिया ने इसे महिला अधिकार हनन की तरह न उठाकर इसे कश्मीरी आंदोलन के जेहादी आयाम व तालीबान से इसके संबंध को उजागर किया। एक बार फिर मुस्लिम महिला की रूढ़िबद्ध छवि जिसे इस्लाम ने दबा रखा था समाज के सामने स्थापित हो गई और सितम्बर 11 की घटना ने इसको राजनैतिक आयाम प्रदान किया।

मुस्लिम समुदाय में मौजूद सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता को स्वीकारने का अभाव मुस्लिम महिलाओं के प्रतिनिधित्व को रेखांकित करता है। पिछले दशक की समछेदी घटनाएं इस बात का सबूत हैं कि मीडिया द्वारा गढ़ी छवियां राजनैतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ मिलकर जन विचारधारा और नज़रिए को किस तरह रचती व पुनर्स्थापित करती हैं। बर्बर मुस्लिम पुरुष व गरीब, सहानुभूति पाने वाली मुस्लिम महिला ये दोनों छवियां ही समाज में स्वीकार्य हैं। *शाहबानो विवाद* से उभरने वाली इस प्रवृत्ति ने नब्बे के दौर में एक निश्चित आकार पाया और सदी के अन्त तक इस छवि को एक वैधता मिली। नब्बे में हुई नकारात्मक मीडिया रिपोर्टिंग ने कुछ सकारात्मक खबरों और रिपोर्टिंग को भी अपने साये तले ढक दिया।

पिछले दशकों में मीडिया ने सिलसिलेवार तरीकों से मुस्लिम महिलाओं व समुदाय की प्रचलित गलतफहमियों

को वैध करार देने में अहम भूमिका अदा की है। मीडिया द्वारा प्रदर्शित मुस्लिम महिला की छवि आज भी समुदाय में गहरे पैठी है और अगर खबरों की रिर्पोटिंग सकारात्मक भी हो तो भी यह महिला "मुस्लिम महिला" की गिरफ़्त से आज़ाद होकर कोई अलग रूप में नहीं देखी जाती। मुस्लिम महिलाओं का मीडिया में चित्रण मुस्लिम समुदाय के प्रति पूर्वग्रहों को मज़बूत करता है पर ये प्रवृत्ति गैर मुस्लिम महिलाओं संबंधी जेंडर मुद्दों की रिर्पोटिंग में नहीं पाई जाती। यह अवश्य है कि प्रेस में महिलाओं पर हिंसा की रिर्पोटिंग में जेंडर पूर्वग्रह निहित होते हैं परन्तु इन पूर्वग्रहों का उपयोग किसी एक समुदाय की निन्दा करने के लिए नहीं किया जाता जैसा कि मुस्लिम समुदाय के संबंध में हुआ है।

आज हम वापस फिर 1993 के दौर में पहुंच गये हैं जबकि गुजरात नरसंहार से गुज़रने वाला समुदाय खुद में सिमटने को बाध्य हो गया है और एक बार फिर महिलाओं के मुद्दे दरकिनार हो गये हैं। अंग्रेज़ी प्रेस ने धर्म निरपेक्षता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराते हुए सरकार की नीतियों की आलोचना की है और गुजरात के मुस्लिम समुदाय को अपना सहयोग प्रदान किया है। इसके बावजूद किसी भी रिर्पोटर ने 'हिंसक इस्लाम' की मीडिया स्थापित छवि को चुनौती देने का साहस नहीं दिखाया है। आज मीडिया यह स्पष्ट रूप से समझ चुका है कि गुजरात नरसंहार का ज़िम्मेदार पूरा हिंदू समुदाय नहीं है बल्कि उनकी पहचान बीजेपी/आरएसएस/वीएचपी के नाम से की जा रही है। ऐसा करके मीडिया ने जटिलताओं और विविधता को स्वीकारा है। पर अब यह देखना है कि ये स्वीकृति किसी बड़ी आलोचनात्मक चेतना की सूचक है या ऐसा केवल इसलिए है क्योंकि मीडिया नहीं चाहता कि उसे बीजेपी/आरएसएस/वीएचपी के सहयोगी के रूप में देखा जाए।

सन् 2001 में दिल्ली के ग्यारह कालेजों में एक सर्वेक्षण किया गया जिसमें छात्र-छात्राओं से मुस्लिम महिलाओं से संबंद्ध मुद्दों तथा "इस्लामी आतंकवाद", जेहाद जैसे शब्दों पर नज़रिया प्रस्तुत करने को कहा गया। अधिकांश जवाब देने वालों (खासकर गैर-मुस्लिम) ने अपनी जानकारी का स्रोत दूरदर्शन व अखबार पत्रिका को बताया। उन्होंने मुस्लिम महिला को इस्लाम व इस्लामी आतंकवाद से पीड़ित बताया। कुछ ने कहा कि मीडिया द्वारा दी गई जानकारी व छवियां सही हैं और इसलिए वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में मुस्लिमों के साथ दोस्ती नहीं रखते। यह विचार कि मुस्लिम महिला, मुस्लिम पर्सनल लॉ से पीड़ित है बहुत व्यापक था और काफी जवाब देने वालों ने उसकी सभी समस्याओं के लिए इस्लाम के अंतर्गत उसके असमान दर्जे को ज़िम्मेदार ठहराया। यह सर्वेक्षण विस्कॉम्प के स्कॉलर ऑफ़ पीस कार्यक्रम के लिए किया गया था।

यह लेख विसकॉम्प (विमेन इन सिक्योरिटी, कनफ्लिक्ट मैनेजमेंट एण्ड पीस) के स्कॉलर ऑफ़ पीस कार्यक्रम के अंतर्गत किए अध्ययन 'मीडिया में मुस्लिम महिलाओं का चित्रण' (रेपरिसेटेंशन ऑफ़ मुस्लिम विमेन इन द मीडिया) पर आधारित है।